नईदुनिया

संपादकीय

राम फिर लौटे हैं, पर इस बार वन से नहीं

वैश्विक *मंच से ऑस्कर की सूची में रामायण का आना केवल फिल्म की उपलब्धि नहीं, सनातन संस्कृति का उद्घोष है। मर्यादा पुरुषोत्तम के आदर्शों को कैमरे में कैद करना बड़ी चुनौती थी और इसी चुनौती ने भारतीय सिनेमा के लिए इतिहास रचने की उम्मीद जगाई है। बेस्ट विजुअल इफेक्ट्स की सूची में जगह मिलना तकनीक के साथ भारतीय संस्कृति की वैश्विक पहचान का अवसर है। अब दुनिया को रामराज्य की परिकल्पना समझाने का समय है।*

जब नितेश तिवारी निर्देशित फिल्म 'रामायण पार्ट वन' को 99वें ऑस्कर पुरस्कारों की बेस्ट विजुअल इफेक्ट्स श्रेणी की शीर्ष 20 फिल्मों की सूची में जगह मिली तो यह केवल एक फिल्म की उपलब्धि नहीं थी, बल्कि भारतीय धर्म, संस्कृति और सनातन परंपरा के लिए वैश्विक मंच पर पहचान बनाने का अवसर भी था। वैरायटी मैगजीन के हवाले से आधिकारिक शॉर्टलिस्ट 15 दिसंबर को जारी होने की बात कही गई है। इसके बाद 21 जनवरी 2027 को अंतिम नामांकन घोषित होंगे। लगभग 1.7 अरब रुपये की लागत से बनी यह फिल्म अब इस प्रतिष्ठित दौड़ में शामिल होने की उम्मीद जगा रही है। यह दुनिया भर के सनातनी रामभक्तों के लिए गर्व का अवसर है। ऑस्कर वह मंच है, जहां हॉलीवुड की बड़ी फिल्में अपनी तकनीकी क्षमता और रचनात्मकता का प्रदर्शन करती हैं। वहां 'ड्यून', 'मैड मैक्स' और 'अवतार' जैसी फिल्मों का दबदबा रहा है। ऐसे मंच पर हमारी रामायण का पहुंचना छोटी उपलब्धि नहीं है। रणबीर कपूर, साई पल्लवी और यश जैसे कलाकारों से सजी इस फिल्म को जिस भव्यता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, वह भारतीय सिनेमा के लिए एक नया मानदंड स्थापित कर सकता है।

राम केवल एक पात्र नहीं, बल्कि जीवन मूल्यों की संपूर्ण परिकल्पना हैं। रामराज्य का अर्थ है न्याय, त्याग, मर्यादा और कर्तव्य का पालन। पिता के वचन के लिए राजपाट छोड़ देना, भाई के लिए वन जाना और शबरी के प्रेम से दिए बेर स्वीकार करना, ये प्रसंग केवल धार्मिक कथाएं नहीं, बल्कि मानवीय संवेदनाओं और आदर्शों के प्रतीक हैं। आज जब दुनिया युद्ध, हिंसा और स्वार्थ की चुनौतियों से जूझ रही है, तब राम के आदर्श मानवता को एक नई दिशा दिखा सकते हैं। फिल्म का ऑस्कर की सूची में पहुंचना इन्हीं मूल्यों को वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करने का अवसर है। दुनिया को यह बताने का समय है कि भारतीय नायक की महानता केवल उसकी शक्ति में नहीं, बल्कि उसके त्याग और मर्यादा में है। भारतीय सिनेमा को तकनीक के मामले में अक्सर हॉलीवुड से पीछे माना जाता रहा है, लेकिन इस फिल्म का प्रयास इस धारणा को चुनौती देता है। लगभग 1,700 करोड़ रुपये का निवेश केवल आर्थिक सामर्थ्य नहीं, बल्कि भारतीय कहानियों को विश्वस्तरीय भव्यता के साथ प्रस्तुत करने का संकल्प भी है।

आज का युवा यदि राम को आधुनिक तकनीक और भव्य दृश्य प्रभावों के साथ देखेगा तो अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उसका जुड़ाव और मजबूत हो सकता है। उसे महसूस होगा कि सनातन परंपरा केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी प्रासंगिक है। राम केवल भारत तक सीमित नहीं हैं। इंडोनेशिया, थाईलैंड और दुनिया के अनेक देशों में रामकथा की परंपरा मौजूद है। राम का चरित्र सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। यदि यह फिल्म ऑस्कर की अंतिम सूची में जगह बनाती है या पुरस्कार जीतती है तो यह भारतीय सिनेमा के साथ हमारी सांस्कृतिक पहचान के लिए भी बड़ी उपलब्धि होगी। कला के माध्यम से दुनिया तक अपने विचार और मूल्य पहुंचाना किसी भी देश की सॉफ्ट पावर का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसके लिए न नारों की जरूरत है और न विवादों की, बल्कि उत्कृष्ट रचनात्मकता की जरूरत है।

इस उपलब्धि से उत्साहित होकर हमें महाभारत, भगवान कृष्ण, गीता और वेद-पुराणों पर भी विश्वस्तरीय फिल्में बनाने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। हमारी आने वाली पीढ़ियां अपनी जड़ों पर गर्व कर सकें और दुनिया भारतीय संस्कृति के मूल्यों को समझ सके, यही प्रयास होना चाहिए। रामायण का ऑस्कर की सूची में पहुंचना केवल फिल्मी खबर नहीं, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक महत्व की घटना है। हजारों वर्षों से भारत को दिशा देने वाले राम के आदर्श अब वैश्विक दर्शकों तक पहुंचने का अवसर पा रहे हैं। राम फिर लौटे हैं, इस बार वन से नहीं, विश्व के सिनेमाई मंच पर।

आजकल

तीस साल की उम्र, पचास साल की सांस, युवा पीढ़ी बिना धुएं के ही धुएं में क्यों

कल्पना कीजिए, आपकी उम्र तीस साल है। आप जिम जाते हैं, दौड़ते हैं और खुद को फिट समझते हैं, लेकिन डॉक्टर बताता है कि आपके फेफड़े पचास साल के व्यक्ति जितना काम कर रहे हैं। यह सुनकर कैसा लगेगा? यही हकीकत आज सामने आ रही है। सांस रोग विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि कम उम्र में ही फेफड़ों की क्षमता तेजी से घट रही है। वायु प्रदूषण और धूम्रपान इसके प्रमुख कारण हैं। जहरीली हवा धीरे-धीरे फेफड़ों की कार्यक्षमता कम कर रही है। खांसी या सांस फूलने जैसे लक्षण सामने आने से पहले ही नुकसान शुरू हो जाता है।

आंकड़े भी चिंताजनक हैं। अस्पतालों में आने वाले 35 प्रतिशत युवाओं के फेफड़े कमजोर पाए जा रहे हैं। इनमें नौ प्रतिशत 25 से 30 साल के युवा हैं, जिनके फेफड़ों की स्थिति पचास साल के व्यक्ति जैसी है। ये अधिक प्रदूषित इलाकों में रहने वाले और धूम्रपान करने वाले युवा हैं। विशेषज्ञ इसे बिना लक्षणों वाली गिरावट मानते हैं, जो सबसे खतरनाक है।

प्रदूषित हवा के बेहद छोटे कण आंखों से दिखाई नहीं देते, लेकिन सांस के साथ फेफड़ों की गहराई तक पहुंच जाते हैं। ये सांस की नलियों में सूजन और जलन पैदा करते हैं। इससे अस्थमा और सीओपीडी जैसी बीमारियों का खतरा बढ़ता है। लंबे समय तक जहरीली हवा में रहने से फेफड़ों को स्थायी नुकसान पहुंच सकता है। आज का युवा प्रोटीन शेक पीता है, सिक्स पैक बनाता है, लेकिन यह नहीं सोचता कि वह दिनभर कैसी हवा में सांस ले रहा है। बाइक पर बिना मास्क के धूल झेलता है और सुबह प्रदूषित वातावरण में दौड़ने निकल पड़ता है। उसे लगता है कि वह स्वस्थ जीवनशैली अपना रहा है, जबकि उसके फेफड़े लगातार प्रदूषण का सामना कर रहे हैं।

बंगला सरकारी, बकाया जनता का, रौब माननीय का!

भोपाल में सरकारी बंगलों में वर्षों से रह रहे पूर्व सांसदों, विधायकों, मंत्रियों और नेताओं पर संपदा संचालनालय ने करीब दस करोड़ रुपये की बकाया राशि वसूली के लिए नोटिस जारी किए हैं। पद जाने के बाद भी सरकारी बंगलों पर कब्जा जमाए बैठे 23 नेताओं को नोटिस थमाया गया है।

प्रमुख बकायादारों में पूर्व मुख्यमंत्री स्वर्गीय कैलाश जोशी के बंगले बी-30 पर करीब 32 लाख रुपये बकाया हैं। यहां उनके बड़े बेटे प्रकाश जोशी रह रहे हैं। पूर्व सांसद प्रज्ञा सिंह ठाकुर पर करीब 18 लाख, पूर्व मंत्री मीना सिंह पर 17.52 लाख, प्रमुराम चौधरी पर 17 लाख, अरविंद भदौरिया पर करीब 17 लाख और रामपाल सिंह पर करीब 16 लाख रुपये बकाया हैं। मीना सिंह के बंगले बी-27 के बाहर 12 नवंबर का नोटिस सहित दो नोटिस चस्पा किए गए हैं। पूर्व राज्यसभा सांसद एच. मुरुगन के बंगले पर 13 लाख रुपये और कई अन्य नेताओं पर नौ से 18 लाख रुपये तक बकाया हैं।

आम आदमी और माननीयों के लिए कानून अलग-अलग क्यों हैं? यदि आम जनता एक महीने बिजली बिल जमा नहीं



करती तो विभाग कनेक्शन काट देता है, पेनल्टी लगाता है और कुर्की की चेतावनी देता है। सरकारी कर्मचारी समय पर बंगला खाली न करे तो उसका सामान बाहर कर दिया जाता है। लेकिन जब यही काम कोई पूर्व मंत्री या सांसद करता है तो व्यवस्था सिर्फ नोटिस तक सिमट जाती है। दो-दो नोटिस चस्पा होते हैं, फोटो खिंचती है और फाइल आगे बढ़ जाती है। क्या कानून की किताब में रसूखदारों और गरीबों के लिए अलग-अलग नियम हैं?

ये सभी पूर्व नेता जनता के टैक्स से भारी-भरकम पेंशन और अन्य सुविधाएं प्राप्त कर रहे हैं। इसके बावजूद सरकारी बंगले के किराये, बिजली और पानी के बिल का भुगतान नहीं करना किस तरह की नैतिकता है? जिस जनता ने इन्हें विधानसभा और संसद तक पहुंचाया, उसी के पैसे से ये पेंशन ले रहे हैं और उसी के खजाने पर बोझ बने हुए हैं। एक तरफ प्रदेश का किसान कर्ज और बिजली बिल के बोझ से दबा है, दूसरी तरफ लाखों रुपये का बकाया रखने वाले नेता सरकारी बंगलों में रह रहे हैं। जनप्रतिनिधि जनता के सेवक हैं, मालिक नहीं।

प्रशासन की चुप्पी भी सवालों के घेरे में है। जो विभाग आम कर्मचारियों के मामले में सख्ती दिखाता है, वही रसूखदारों के सामने मौन क्यों हो जाता है? क्या अधिकारी इस आशंका से कार्रवाई करने से बचते हैं कि आज जो पूर्व मंत्री या सांसद है, वह कल फिर सत्ता में लौट सकता है? यही डर व्यवस्था को कमजोर करता है। यदि संपदा संचालनालय में इच्छाशक्ति होती तो अब तक बकाया राशि की वसूली और बंगले खाली कराने की प्रक्रिया आगे बढ़ चुकी होती। केवल नोटिस जारी करने से सरकारी खजाने की भरपाई नहीं होगी।

सरकारी बंगला किसी व्यक्ति की निजी जागीर नहीं है। पद पर रहने तक यह सुविधा है और पद समाप्त होने के बाद इसे लौटाना अनिवार्य है। लेकिन यहां सुविधा को अधिकार समझ लिया गया है। वर्षों तक कब्जा बनाए रखना सरकारी संपत्ति के उपयोग से जुड़े नियमों की अवहेलना है। यदि कोई आम नागरिक सरकारी जमीन पर कब्जा करता है तो प्रशासन सख्त कार्रवाई करता है। फिर पूर्व मंत्रियों और सांसदों के मामले में यही सख्ती क्यों नहीं दिखाई जाती?

अब आवश्यकता कठोर और समयबद्ध निर्णय की है। सरकार को चाहिए कि 15 दिन के भीतर सभी बकायादारों से नियमानुसार वसूली सुनिश्चित करे और अनधिकृत रूप से रह रहे लोगों से बंगले खाली कराए। भुगतान नहीं होने पर कानून के तहत उनकी पेंशन या अन्य देय राशि से बकाया वसूलने की कार्रवाई की जाए। भविष्य के लिए स्पष्ट नियम बने कि पद समाप्त होने के एक माह के भीतर बंगला खाली करना अनिवार्य होगा। ऐसा नहीं करने पर बाजार दर के अनुसार अतिरिक्त किराया और जुर्माना लगाया जाए।

लोकतंत्र में कोई भी माननीय कानून से बड़ा नहीं हो सकता। सत्ता आती-जाती रहती है, लेकिन सरकारी खजाना जनता का होता है। दस करोड़ रुपये छोटी राशि नहीं है। इस धन से कई स्कूलों की व्यवस्था सुधारी जा सकती है और अस्पतालों में दवाओं की उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है।

जनता के पैसे को बकायादारों के पास छोड़ देना उसके साथ अन्याय है। अब नोटिस की औपचारिकता बंद हो और वास्तविक वसूली शुरू हो। तभी राजधर्म का पालन होगा और जनता का भरोसा व्यवस्था पर कायम रहेगा। अन्यथा यही संदेश जाएगा कि कानून गरीबों के लिए है और छूट केवल रसूखदारों के लिए।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

छह साल बाद फिर साथ-साथ भाजपा-शिअद

एनडीए में पुनर्मिलन, पंजाब की सियासत का नया अध्याय

चंडीगढ़ में कृषि कानूनों पर टूटा था 24 साल पुराना नाता, अब गुरु पर्व पर वापसी का ऐलान। बड़े भाई के पास पंथ की विरासत, छोटे भाई के पास दिल्ली का साथ, क्या बनेगी डबल इंजन की बात? सिख समाज पर पड़ेगा असर, क्या पंथक वोट फिर लौटेगा और हिंदू वोट का होगा ट्रांसफर?

पंजाब की राजनीति में वह हुआ, जिसका इंतजार पिछले छह साल से हो रहा था। शिरोमणि अकाली दल फिर से राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) में शामिल हो गया है। चंडीगढ़ में कृषि कानूनों के मुद्दे पर छह साल पहले अलग होने के बाद शिरोमणि अकाली दल ने मंगलवार को एक बार फिर एनडीए के साथ आने की घोषणा की। केंद्रीय गृह मंत्री अमित शाह ने इसका स्वागत करते हुए कहा कि सबसे पुराने सहयोगियों में शामिल शिअद के आने से अब एनडीए संपूर्ण हो गया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि बड़े भाई की भूमिका शिअद के पास रहेगी और सत्ता में आने पर मुख्यमंत्री भी शिअद का ही होगा। सीटों के बंटवारे में भी उसे प्राथमिकता मिलेगी। यह बयान इस मायने में बड़ा है कि भाजपा ने खुद को छोटे भाई की भूमिका में स्वीकार किया है, जो पंजाब में अकाली दल को सम्मान देने की पुरानी परंपरा को फिर से जीवित करता है।

पंजाब में शिअद और भाजपा की गठबंधन सरकार तीन बार सत्ता में रही है। 1997, 2007 और 2012 में गठबंधन ने सरकार बनाई थी। सितंबर 2020 में कृषि कानूनों के विरोध में शिअद ने एनडीए से 24 साल पुराना नाता तोड़ दिया था। इसके बाद दोनों दलों को अलग-अलग चुनाव लड़ना पड़ा और इसका खामियाजा भी भुगतना पड़ा। गठबंधन टूटने के बाद दोनों दलों को अपेक्षित सफलता नहीं मिली। भाजपा का वोट प्रतिशत तो बढ़ा, लेकिन वह सीटों में तब्दील नहीं हो सका। दोनों दलों में गठबंधन की वापसी के संकेत अगस्त में ही मिलने लगे थे, जब सुखबीर बादल ने संसद परिसर में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से मुलाकात की थी। तभी से गठबंधन की वापसी के कयास लगाए जा रहे थे।

इस गठबंधन का सिख समाज पर कितना असर पड़ेगा, यह समझना जरूरी है। शिरोमणि अकाली दल सिर्फ एक राजनीतिक दल नहीं, बल्कि एक पंथक दल है, जो सिखों की धार्मिक और सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। पिछले कुछ वर्षों में अकाली दल से पंथक वोट खिसक गया था। किसान आंदोलन के बाद सिख समाज में भाजपा के प्रति नाराजगी थी और अकाली दल अकेला पड़ गया था। अब जब दोनों फिर साथ आए हैं तो सिख समाज में एक नया संदेश गया है कि पंथ और राष्ट्रवाद साथ-साथ चल सकते हैं। भाजपा ने श्री गुरु नानक देव जी के प्रकाश पर्व पर दिल्ली स्थित गुरुद्वारे में कार्यक्रम आयोजित कर सिख भावनाओं को छूने की कोशिश भी की है। इससे शहरी और ग्रामीण सिखों के बीच भरोसा लौट सकता है।

चुनावी लाभ की बात करें तो बड़े भाई के साथ छोटे भाई को भी फायदा मिल सकता है। अकाली दल की आज भी गांवों में मजबूत पकड़ है। हर गांव में उसका कार्यकर्ता और कैडर है, जो वर्षों से पार्टी के साथ जुड़ा हुआ है, लेकिन उसके पास दिल्ली का साथ नहीं था। दूसरी ओर, भाजपा के पास केंद्र की सत्ता, सरकारी योजनाएं और प्रधानमंत्री की छवि है, लेकिन गांवों में उसकी जमीनी पकड़ सीमित रही है। अब जब दोनों साथ आएंगे तो डबल इंजन का लाभ मिल सकता है। सुखबीर बादल ने अपने पिता और पूर्व मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल तथा पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को याद करते हुए कहा कि यह राजनीतिक नहीं, भावनात्मक गठबंधन है। उन्होंने बताया कि आज पंजाब में गैंगस्टर राज है और ऐसे हालात में इस गठबंधन की जरूरत है।



हिंदू वोटों का समीकरण भी बदल सकता है। पंजाब में भाजपा का मुख्य आधार शहरी हिंदू मतदाता हैं, जिनका वोट पहले अकाली दल को भी मिलता था। 2020 के बाद यह वोट ट्रांसफर रुक गया था और हिंदू मतदाता असमंजस में था। अब फिर से हिंदू वोट अकाली दल को और अकाली दल का सिख वोट भाजपा को मिल सकता है। इससे दोनों दलों का वोट बैंक मजबूत होगा। कांग्रेस और आम आदमी पार्टी के लिए यह चिंता की बात हो सकती है, क्योंकि दोनों पार्टियां इसी बंटवारे का लाभ उठा रही थीं। अब जब पंथक और शहरी वोट एक जगह आ सकते हैं तो त्रिकोणीय मुकाबला सीधा हो सकता है।

फिर भी चुनौतियां कम नहीं हैं। अकाली दल पर बादल परिवार के वर्चस्व का आरोप लगता रहा है। सुखबीर बादल को अपनी छवि बदलनी होगी और युवाओं में भरोसा पैदा करना होगा। नशे और बेअदबी जैसे मुद्दों पर स्पष्ट जवाब देना होगा। भाजपा को भी सिख समाज की नाराजगी दूर करनी होगी। कृषि कानून वापस लेने के बाद भी जो अविश्वास बना हुआ है, उसे खत्म करना होगा। यदि दोनों दल मिलकर पंजाब के असली मुद्दों, जैसे बेरोजगारी, खेती और सुरक्षा पर काम करते हैं, तभी यह गठबंधन लंबा चलेगा। अन्यथा यह सिर्फ सत्ता का समझौता बनकर रह जाएगा।

छह साल बाद शिअद और भाजपा का फिर साथ आना पंजाब की राजनीति में एक बड़ा मोड़ है। यह सिर्फ दो दलों का मिलन नहीं, बल्कि पंथ और राष्ट्रवाद के बीच फिर से तालमेल की कोशिश है। यह बड़े भाई और छोटे भाई का फिर से गले मिलना है। यदि यह गठबंधन ईमानदारी से चलता है तो पंजाब में स्थिर सरकार की संभावना बन सकती है और सिख समाज के साथ आई दूरी कम हो सकती है। आने वाले पंचायत और विधानसभा चुनावों में इसका असली असर दिखाई देगा। इतना तय है कि पंजाब की सियासत अब फिर से दो ध्रुवों में बंटती दिखाई दे रही है, एक तरफ एनडीए और दूसरी तरफ बाकी राजनीतिक दल।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

एक सौ बीस की जिद, छब्बीस का अड़ंगा, क्या उप्र में फिर बिखरेगा विपक्षी कुनबा?

नई दिल्ली में उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में गठबंधन की हामी भर चुके सपा और कांग्रेस के बीच सीट बंटवारे पर चर्चा जारी है। यह चर्चा अब निर्णायक मोड़ पर पहुंच गई है। कांग्रेस अब अपनी दावेदारी घटाकर 120 सीटों पर लाई है, जबकि समाजवादी पार्टी केवल 26 सीटें देने को तैयार है। इसी टकराव ने पूरे गठबंधन को सवालों के घेरे में खड़ा कर दिया है। समाजवादी पार्टी के 26 सीटों के दांव ने कांग्रेस की स्थिति उजागर कर दी है, वहीं कांग्रेस की 120 सीटों की जिद ने गठबंधन की गांठ ढीली कर दी है। तालमेल वार्ता को जमीनी धरातल पर लाने के लिए कांग्रेस को 26 सीटों पर चुनाव लड़ने का प्रस्ताव दिया गया था, जिस पर सपा की भी सहमति थी, लेकिन अचानक कांग्रेस ने अपनी मांग बढ़ा दी। इसके पीछे कांग्रेस की नई रणनीति है। उसका मानना है कि यदि वह कम सीटों पर लड़ी तो उप्र में उसका अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा, कार्यकर्ता टूट जाएंगे और संगठन बिखर जाएगा। इसलिए वह कम से कम 120 सीटों पर लड़ना चाहती है, ताकि हर जिले में उसका झंडा लगा रहे और कार्यकर्ता सक्रिय रहें। संगठन के लिहाज से यह तर्क सही लग सकता है, लेकिन चुनावी गणित के लिहाज से कमजोर है।



नेहरू-गांधी परिवार की परंपरागत लोकसभा सीटें रायबरेली और अमेठी कांग्रेस के लिए प्रतिष्ठा का सवाल बनी हुई हैं। कांग्रेस की पूरी राजनीति इन दो सीटों के इर्द-गिर्द घूमती दिखाई देती है। उसे लगता है कि यदि रायबरेली और अमेठी बच गईं तो उप्र में उसकी इज्जत बच जाएगी, लेकिन हकीकत यह है कि प्रदेश की राजनीति अब इन दोनों सीटों से बहुत आगे निकल चुकी है। भाजपा ने पिछले दो लोकसभा चुनावों में अमेठी में कांग्रेस को हराकर साबित कर दिया है कि गांधी परिवार का गढ़ अब अभेद्य नहीं रहा। ऐसे में केवल दो सीटों के सहारे पूरे प्रदेश में सौदेबाजी करना कांग्रेस की कमजोरी ही दिखाता है।

सपा की ओर से उठाया गया कदम भी गंभीर विश्लेषण की मांग करता है। सपा ने लखनऊ ब्यूरो के माध्यम से पांच विधानसभा सीटों पर अपने प्रत्याशी घोषित किए हैं। इनमें चार वर्तमान मुस्लिम विधायक हैं और एक सीट ऐसी है, जहां सपा पिछले चुनाव में हार गई थी। यह घोषणा कांग्रेस पर दबाव बनाने की रणनीति है। सपा यह बताना चाहती है कि वह इंतजार नहीं करेगी और कांग्रेस की मांगें बढ़ती रहीं तो अकेले भी चुनाव लड़ने को तैयार है। सपा का यह दांव कांग्रेस को सोचने पर मजबूर कर रहा है कि कहीं 26 सीटें भी हाथ से न निकल जाएं। गंभीर सवाल यह है कि क्या कांग्रेस के पास 120 सीटों पर लड़ने की ताकत है? पिछले विधानसभा चुनाव में कांग्रेस ने 300 से अधिक सीटों पर चुनाव लड़ा था और केवल दो सीटें जीत पाई थी। कई सीटों पर उसकी जमानत भी जब्त हो गई थी। ऐसी स्थिति में फिर से 120 सीटें मांगना कितना यथार्थवादी है? राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि कांग्रेस को अपनी ताकत के अनुसार सीटें मांगनी चाहिए। यदि वह 50 से 60 सीटों पर पूरी ताकत लगाए तो 10 से 15 सीटें जीत सकती है, लेकिन 120 सीटों पर बिखरकर लड़ेगी तो फिर दो-तीन सीटों पर सिमट सकती है।

सपा की मजबूरी भी समझनी होगी। वह उप्र में मुख्य विपक्षी दल है और भाजपा से सीधी लड़ाई उसी की है। यदि वह कांग्रेस को 120 सीटें दे देती है तो उनमें कम से कम 80 सीटें ऐसी हो सकती हैं, जहां सपा खुद मजबूत है। वहां कांग्रेस के कमजोर होने से भाजपा को सीधा फायदा होगा। सपा यह जोखिम नहीं लेना चाहती। वह कांग्रेस को केवल उन सीटों पर लड़ाना चाहती है, जहां भाजपा मजबूत है और सपा का अपना वोट बैंक कमजोर है। यानी कांग्रेस को बलि का बकरा बनाने की कोशिश है। यह गठबंधन धर्म के खिलाफ है, लेकिन राजनीति में ऐसा होता रहा है।

यह गठबंधन बनता है तो इसका लाभ किसे मिलेगा? सर्वे बता रहे हैं कि उप्र में भाजपा अभी भी मजबूत स्थिति में है। सपा और कांग्रेस अलग-अलग लड़े तो वोट बंटेंगे और भाजपा को फायदा होगा। साथ लड़े तो भी जीत की गारंटी नहीं है, क्योंकि दोनों के वोट बैंक में पर्याप्त अंतर है। मुस्लिम वोट दोनों को मिलता है, लेकिन यादव वोट केवल सपा को मिलता है और सवर्ण वोट का एक हिस्सा कांग्रेस के साथ जा सकता है। यदि कांग्रेस को सम्मानजनक सीटें नहीं मिलीं तो सवर्ण मतदाता भाजपा की ओर जा सकते हैं और यदि सपा ने ज्यादा सीटें दे दीं तो उसका अपना यादव मतदाता नाराज हो सकता है। यह दोधारी तलवार है।

कांग्रेस और सपा को इस जिद और अड़ंगे से बाहर निकलना होगा। 120 और 26 के बीच का रास्ता निकालना होगा। राजनीतिक सूत्रों के अनुसार, 60 से 70 सीटों पर सहमति बन सकती है, जिसमें रायबरेली और अमेठी की सभी विधानसभा सीटें कांग्रेस को मिल सकती हैं और बाकी जिलों में भी एक-एक सीट दी जा सकती है। ऐसा हुआ तो गठबंधन बच सकता है, अन्यथा यह टूट जाएगा और उप्र में भाजपा के लिए रास्ता और आसान हो जाएगा। राजनीति में मांगना अधिकार है, लेकिन पाना समझदारी है और इस समय समझदारी ही सबसे बड़ी जरूरत है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

न प्रतिनिधि, न जवाबदेही, किसके भरोसे किसान और शहर?

पंचायत और नगरीय निकायों के चुनाव भी लटके तो गांव और शहर दोनों अनाथ हो जाएंगे। सोचिए, एक किसान सुबह चार बजे उठता है, खेत जाता है और सोचता है कि आज समिति पर जाकर खाद ले आएगा, लेकिन समिति पर ताला लगा है या वहां बैठा प्रशासक कहता है कि ऊपर से आदेश नहीं आया है। वह किसान किससे शिकायत करे? उसका कोई चुना हुआ प्रतिनिधि ही नहीं है। पिछले सात साल से मध्यप्रदेश की 4,536 प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों में यही हाल है। 2018 से चुनाव नहीं हुए हैं। सरकार ने अब फिर एक साल टालने का निर्णय लिया है। यह सिर्फ चुनाव टालना नहीं है, बल्कि किसान की आवाज और उसकी उम्मीद को टालना है।

असल में सहकारी समिति क्या है? यह कोई सरकारी दफ्तर नहीं, बल्कि किसानों का अपना संगठन है। जैसे गांव में चूल्हा साझा होता है, वैसे ही यह समिति भी साझा होती है। किसान अपना पैसा लगाता है, अपना अनाज देता है और उसी से उसका हक बनता है। लेकिन जब चुनाव नहीं होता तो यह साझा चूल्हा सरकारी चूल्हा बन जाता है। वहां प्रशासक बैठ जाता है, जो कलेक्टर का आदमी होता है, किसान का नहीं। वह किसान की नहीं, फाइल की सुनता है। खाद कहां गया, बीज कहां गया, यह पूछने वाला कोई नहीं है। इसलिए सहकारी समितियों में गड़बड़ी की खबरें आती हैं। फर्जी सदस्य बन रहे हैं और असली किसान बाहर खड़ा है।

अब सरकार नया तर्क लेकर आई है कि जनगणना चल रही है, इसलिए प्रशासनिक इकाइयां फ्रीज हैं। नया परिसीमन कराना है, आयोग बना है, सुनवाई होगी, दावा-आपत्तियां होंगी और उसके बाद चुनाव होंगे। यानी सीधा मतलब है कि नगरीय निकायों और पंचायतों के चुनाव भी अगले साल मई-जून में नहीं होंगे। यह तर्क सुनकर हंसी आती है। क्या जनगणना पहली बार हो रही है? क्या परिसीमन पहली बार हो रहा है? पहले भी जनगणना हुई है, परिसीमन हुआ है, लेकिन चुनाव भी हुए हैं। यह बहाना नया है, मकसद पुराना है, चुनाव से बचना। क्योंकि चुनाव में जनता सच बोलती है।

जब पंचायत का चुनाव होता है तो गांव में चर्चा होती है कि सड़क क्यों नहीं बनी, पानी क्यों नहीं आया। जब नगरीय निकाय का चुनाव होता है तो शहर में चर्चा होती है कि कचरा क्यों नहीं उठा, नाली क्यों जाम है। यह चर्चा सरकार के लिए असहज होती है। इसलिए बेहतर है कि चुनाव ही न हों और प्रशासक से काम चलाया जाए। प्रशासक सवाल नहीं करता, वह तो आदेश मानता है। लेकिन लोकतंत्र आदेश से नहीं, संवाद से चलता है और संवाद चुनाव से ही आता है।

इसका सबसे बड़ा नुकसान युवाओं को हो रहा है। पहले गांव का एक युवा पंच बनता था, फिर सरपंच और उसके बाद जिला पंचायत सदस्य बनता था। यही उसकी लोकतंत्र की पाठशाला थी। पंचायत लोकतंत्र की पहली कक्षा है, लेकिन जब कक्षा ही बंद है तो युवा कहां से सीखेगा? आज प्रदेश में एक पूरी पीढ़ी ऐसी है, जिसने सात साल से पंचायत या सहकारी समिति का चुनाव देखा ही नहीं। वह लोकतंत्र को सिर्फ टीवी पर देखती है, जमीन पर नहीं। यह खतरनाक है, क्योंकि जब युवा लोकतंत्र से कटता है तो वह दूसरे रास्तों पर चला जाता है। शहरों का हाल भी अलग नहीं है। नगर निगमों में महापौर और पार्षदों के निर्वाचित प्रतिनिधित्व के अभाव में जनता नाली की शिकायत लेकर कहां जाए? अधिकारी कहता है कि बजट नहीं है, प्रस्ताव नहीं है। यदि पार्षद होता तो वह लड़ता, झगड़ता और काम कराता। अब अधिकारी से कौन लड़ेगा? इसलिए शहरों में गंदगी बढ़ रही है, सड़कें टूटी हैं और जनता की आवाज सुनने वाला कोई निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं है। लोकतंत्र में चुना हुआ व्यक्ति ही जनता का वकील होता है। जब वकील ही नहीं होगा तो इंसाफ कैसे मिलेगा?

सरकार को चुनाव को बोझ नहीं, उत्सव समझना चाहिए। यदि परिसीमन करना है तो जरूर कीजिए, लेकिन पुरानी व्यवस्था के आधार पर चुनाव क्यों नहीं कराए जा सकते? चुनाव कराइए, नई समितियां बनती रहेंगी और नया परिसीमन बाद में लागू हो जाएगा। कम से कम किसान को उसका प्रतिनिधि तो मिलेगा और शहर को उसका पार्षद। यह कौन-सी समझदारी है कि घर का नक्शा बनने तक घर में रहना ही बंद कर दिया जाए? नक्शा बनता रहेगा और लोग रहते रहेंगे। वैसे ही परिसीमन चलता रहे और चुनाव भी होते रहें। लोकतंत्र एक पेड़ है। पंचायत और सहकारी समितियां उसकी जड़ हैं, नगरीय निकाय उसका तना हैं और विधानसभा तथा लोकसभा उसकी शाखाएं हैं। यदि जड़ में ही पानी नहीं डालोगे तो शाखाएं कैसे हरी रहेंगी? आज मध्यप्रदेश में जड़ ही सूख रही है। सात साल से पानी नहीं मिला और अब एक साल का सूखा और बढ़ा दिया गया है। यदि जड़ सूख गई तो पेड़ गिर जाएगा। इसलिए सरकार को बहानेबाजी बंद कर चुनाव की तारीखों का ऐलान करना चाहिए, क्योंकि जनता को प्रशासक नहीं, अपना निर्वाचित प्रतिनिधि चाहिए।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)